

एस. वी. कंदस्कर

बनाम

वी. एन. देशपांडे और अन्य

4 जनवरी, 1972

[एस. एम. सिकरी, सी. जे., जे. एम. शेलट, आई. डी. डुआ, एच. आर.

खन्ना और जी. के. मिटर, न्यायमूर्तिगण]

आयकर धारा-148 और कंपनी अधिनियम- धारा 446 (1)- क्या आयकर अधिकारियों को कंपनी की छूट गई आय (Escaped Income) के निर्धारण को पुनः खुलवाने हेतु परिसमापन न्यायालय की अनुमति की आवश्यकता होती है?

उच्च न्यायालय द्वारा एक कंपनी (परिसमापन में) को समापन के आदेश दिये गए थे तथा उसके आधिकारिक परिसमापक को कंपनी का परिसमापक नियुक्त किया गया। उसके पश्चात आई टी ओ द्वारा धारा 148 आई टी अधिनियम के तहत कंपनी के निर्धारण वर्ष 1950-51 से 1956-57 के पुनर्निर्धारण हेतु नोटिस जारी किए गए। आई. टी. ओ. द्वारा आधिकारिक परिसमापक को आगे अधिसूचित किया गया कि वे नोटिस के पीछे अंकित निर्दिष्ट खाते व दस्तावेजों को पेश करें। आधिकारिक परिसमापक ने उच्च न्यायालय के समक्ष एक प्रार्थना पत्र लगाते हुए धारा 446(1) कंपनी अधिनियम में वर्णित आवश्यकता बताकर आई. टी. ओ.

द्वारा बिना उच्च न्यायालय की अनुमति के उक्त नोटिस जारी करने की क्षेत्राधिकारिता पर प्रश्नचिन्ह उठाया। उच्च न्यायालय की एकल पीठ न्यायाधीश ने आई. टी. ओ. को उक्त कंपनी का पुनर्निर्धारण अवरुद्ध करते हुए निषेधाज्ञा जारी की। अपील में अपीलीय उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने उक्त आदेश को पलट दिया और निषेधाज्ञा को रद्द कर दिया। इस न्यायालय में अपील पर निर्धारण के लिए केवल एक प्रश्न उठा है कि 'क्या आई.टी.ओ.के लिए यह आवश्यक है कि वह कंपनी की पुराने वर्षों की छूट गई आय (Escaped Income) के पुनर्निर्धारण हेतु वह परिसमापन न्यायालय की अनुमति प्राप्त करे । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित किया कि: आयकर अधिकारियों को निर्धारण प्रक्रिया को चालू करने अथवा निरंतर रखने अथवा पुनर्निर्धारण करने हेतु परिसमापन न्यायालय की अनुमति की आवश्यकता नहीं है। आयकर अधिनियम स्वयं में ही एक पूर्ण संहिता है तथा धारा 147 आयकर अधिकारी को छूट गई आय (Escaped Income) के निर्धारण या पुनर्निर्धारण का अधिकार देता है। इसके अलावा, धारा 446(2) आयकर अधिनियम के अनुसार इन निर्धारण की कार्यवाहियों को आयोजित करते समय, आयकर अधिकारी न्यायालय के कार्यों का सम्पादन नहीं करता है।

करदाताओं द्वारा देय करराशि का निर्धारण करते समय परिसमापन न्यायालय एक आयकर अधिकारी के कार्य संपादित नहीं कर सकता है चाहे निर्धारिती ऐसी ही कंपनी क्यों न हो जिसे न्यायालय द्वारा ही समापित

किया जा रहा हो। यदि परिसमापन न्यायालय की शक्तियां स्वयं को ही निर्धारण प्रक्रिया को अंतरित कर कंपनी की आयकर निर्धारित करने की होनी मानी जावे तो इसके विषम परिणाम होंगे। [978 B-D]

गवर्नर-जनरल इन काउंसिल v. शिरोमणि शुगर मिल्स लिमिटेड, [1946] एफ. सी. आर. 40. शकुंतला बनाम पीपुल्स बैंक ऑफ नॉर्थन इंडिया लिमिटेड (परिसमापन मे) [1941] आई. एल. आर. 22 लाह. 760 और एम. के. रंगनाथन बनाम स्टेट ऑफ मद्रास [1955] 2 एस. सी. आर. 374 का उल्लेख और चर्चा की गई।

सिविल अपीलीय अधिकारिता: सिविल अपील सं. 1650/ 1970.

बॉम्बे उच्च न्यायालय द्वारा अपील सं. 94/1967 में पारित निर्णय और आदेश दिनांकित 31 जनवरी, 1970

एस. टी. देसाई, पी. सी. भर्तारी अजीत मेहता, किरीट मेहता, जे. बी. दादाचंजी। अपीलार्थी की ओर से ओ. सी. माथुर और रविंदर नारायण।

उत्तरदाताओं के लिए बी. सेन, एस. के. अय्यर और आर. एन. सचथे।

न्यायालय का निर्णय इनके द्वारा दिया गया:

दुआ, न्यायमूर्ति-

द कोलाबा लैंड एंड मिल्स कंपनी लिमिटेड (परिसमापन में) को बॉम्बे उच्च न्यायालय द्वारा 7 अक्टूबर, 1959 को कंपनी अधिनियम, 1956 (1 ऑफ 1956) के प्रावधानों के तहत समाप्त करने के आदेश दिये गए और

जाएगा) के तहत बिना कोर्ट की अनुमति के आयकर अधिकारी कोलाबा लैंड एंड मिल्स कंपनी लिमिटेड के संबंध में प्रस्तावित निर्धारण या पुनर्निर्धारण की कार्यवाही शुरू अथवा जारी रखने के हकदार नहीं हैं। यह रूख रखते हुए विद्वान न्यायाधीश ने आयकर अधिकारी को निर्धारण वर्षों 1950-51 से 1955-56 के लिए उक्त कंपनी का निर्धारण या पुनर्निर्धारण से अवरुद्ध करते हुए निषेधाज्ञा जारी की।

आयकर अधिकारी और भारत संघ द्वारा उक्त निषेधाज्ञा के आदेश के खिलाफ उच्च न्यायालय में अपील करने पर अपीलीय पीठ के समक्ष की अपील पर, खंड पीठ (मोदी और देसाई, न्यायमूर्तिगण) ने विद्वान एकल न्यायाधीश के आदेश को पलट दिया और निषेधाज्ञा को रद्द कर दिया। अपीलीय पीठ के समक्ष आयकर अधिकारी की ओर से मुख्यतः दो तर्क उठाये गये- (1)- धारा 148 के तहत पुनर्निर्धारण हेतु जारी किये गये नोटिस धारा 446(1) में प्रयुक्त पदावली के अन्तर्गत ना आकर विधिक कार्यवाही के रूप में नहीं रहे हैं। (2)- और यदि यह माना भी जावे कि नोटिस के तहत शुरू हुई पुनर्निर्धारण की प्रक्रिया यदि विधिक कार्यवाही है भी, तो भी अधिनियम की धारा 446(1) के तहत कम्पनी कोर्ट की अनुमित की आवश्यकता नहीं रही थी, क्योंकि आयकर अधिकारी को ही पुनर्निर्धारण और कर निर्धारण हेतु अनन्य अधिकारिता होती है। अपिलार्थी के उठाये गये तर्कों के अनुसार आयकर अधिकारी के समक्ष चलने वाली समस्त प्रक्रियाएँ सभी सिविल न्यायालयों समेत कम्पनी कोर्ट की भी

क्षेत्राधिकारिता से बाहर होती है। अपील खण्डपीठ ने उठाये गये प्रथम तर्क को दमजी वलजी शाह बनाम लाईफ इन्श्योरेंस कार्पोरेशन आफ इण्डिया¹ में अभिनिर्धारित विधि के कारण से सही नहीं माना। द्वितीय तर्क को स्वीकार लायक माना जाकर अपील निर्धारण के लिये पर्याप्त माना गया।

आधिकारिक परिसमापक ने उच्च न्यायालय से संविधान के अनुच्छेद 133(1)(C) के तहत सर्टिफिकेट प्राप्त करते हुए हाजा न्यायालय के समक्ष अपील प्रस्तुत की। प्रकरण के संबंध में एकमात्र प्रश्न जिस पर विचार विमर्श की आवश्यकता है, वह यह है कि-'क्या आई.टी.ओ.के लिए यह आवश्यक है कि वह कंपनी की पुराने वर्षों की छूट गई आय (Escaped Income) के पुनर्निर्धारण हेतु वह परिसमापन न्यायालय की अनुमति प्राप्त करे?'

धारा 446 इस प्रकार से है कि-

(1) जब समापन आदेश दिया गया है या आधिकारिक परिसमापक को अनंतिम परिसमापक के रूप में नियुक्त किया गया है, तो कोई मुकदमा या अन्य कानूनी कार्यवाही शुरू नहीं की जाएगी, या यदि समापन आदेश की तारीख पर लंबित है, तो उसके खिलाफ कार्रवाई की जाएगी कंपनी, न्यायालय की अनुमति के अलावा और ऐसी शर्तों के अधीन होगी जो न्यायालय लगा सकता है।

¹ A.I.R 1966 SC 135

(2) जो न्यायालय कंपनी को बंद कर रहा है, उस समय लागू किसी भी अन्य कानून में किसी भी बात के बावजूद, उसके पास निम्नलिखित का मनोरंजन करने या निपटान करने का अधिकार क्षेत्र होगा--

(ए) कंपनी द्वारा या उसके खिलाफ कोई मुकदमा या कार्यवाही;

(बी) कंपनी द्वारा या उसके खिलाफ किया गया कोई भी दावा (भारत में उसकी किसी भी शाखा द्वारा या उसके खिलाफ दावों सहित);

(सी) प्राथमिकताओं का कोई प्रश्न या कोई अन्य प्रश्न, चाहे वह कानून का हो या तथ्य का, जो कंपनी के समापन के दौरान संबंधित हो सकता है या उत्पन्न हो सकता है;

क्या ऐसा मुकदमा या कार्यवाही शुरू की गई है या शुरू की गई है, या ऐसा दावा या प्रश्न उत्पन्न हुआ है या उत्पन्न हुआ है या ऐसा आवेदन कंपनी के समापन के आदेश से पहले या बाद में किया गया है, या शुरू होने से पहले या बाद में किया गया है कंपनी (संशोधन) अधिनियम, 1960.

(3) कंपनी द्वारा या उसके विरुद्ध कोई भी मुकदमा या कार्यवाही, जो उस न्यायालय के अलावा किसी अन्य

न्यायालय में लंबित है, जिसमें कंपनी के समापन की कार्यवाही चल रही है, किसी भी समय लागू किसी अन्य कानून में निहित किसी भी बात के बावजूद, उसे स्थानांतरित किया जा सकता है और उस न्यायालय द्वारा निपटारा किया गया।

(4) उप-धारा (1) या उप-धारा (3) में कुछ भी उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के समक्ष अपील में लंबित किसी भी कार्यवाही पर लागू नहीं होगा।

हाल विवाद के संबंध में उक्त धारा का सटीक व सही रूप से समझने के लिये हमें उक्त अधिनियम की योजना(Scheme) को देखना होगा। अधिनियम के अध्याय 2 भाग 8 की धारा 433 न्यायालय द्वारा समापन को उपबंधित करते हुए शुरू होता है। धारा 439 समापन के प्रार्थनापत्रों व धारा 411 कब कम्पनी की समापन की प्रक्रिया को आरम्भ होना मानी जावेगी, यह उपबंधित करती है। धारा 442, जो कि न्यायालय को स्थगन या कम्पनी के विरुद्ध प्रक्रियाओं को रोकने की अधिकारिता देती है, उपबंधित करती है -

"442. समापन याचिका की प्रस्तुति के बाद और समापन आदेश दिए जाने से पहले किसी भी समय, कंपनी या कोई लेनदार या अंशदायी--

(ए) जहां कंपनी के खिलाफ कोई मुकदमा या कार्यवाही सर्वोच्च न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय में लंबित है, वहां कार्यवाही पर रोक लगाने के लिए उस न्यायालय में आवेदन करें जिसमें मुकदमा या कार्यवाही लंबित है; और

(बी) जहां किसी अन्य न्यायालय में कंपनी के खिलाफ कोई मुकदमा या कार्यवाही लंबित है, तो कंपनी को बंद करने, मुकदमे या कार्यवाही में आगे की कार्यवाही को रोकने के अधिकार क्षेत्र वाले न्यायालय में आवेदन करें;

और जिस न्यायालय में इस प्रकार आवेदन किया गया है वह उचित समझे जाने वाली शर्तों पर तदनुसार कार्यवाही पर रोक लगा सकता है या रोक सकता है।

धारा 444 कम्पनी को समाप्त करने वाली कोर्ट को यह आदिष्ट करता है कि वह इसकी सूचना उसके शासकीय परिसमापक व कम्पनी एक्ट के तहत नियुक्त रजिस्ट्रार को भेजे। धारा 448 उच्च न्यायालयों के साथ संलग्न अधिकारिक परिसमापक का केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्ति तथा धारा 609 केन्द्रीय सरकार द्वारा रजिस्ट्रारों की नियुक्ति के संबंध में उपबंधित करती है।

परिसमापन की प्रक्रिया करने वाले याची व कम्पनी का यह दायित्व है कि वह धारा 445 के तहत परिसमापन के आदेश की प्रमाणित प्रति रजिस्ट्रार के समक्ष प्रस्तुत करे। जिसे रजिस्ट्रार गजेट नोटिफिकेशन में

अधिसूचित कर सके कि उक्त प्रकार का आदेश किया गया है। मात्र उन परिस्थितियों को छोड़कर जहां कम्पनी का कारोबार जारी है, इस प्रकार का परिसमापन का आदेश कम्पनी के अधिकारियों व कर्मचारियों का उन्मोचन का नोटिस माना जावेगा धारा 445(3)। धारा 446 के संबंध में पूर्वोक्ति पहले से ही की जा चुकी है। उक्त धारा का उपबन्ध (2) व उपबन्ध (4) को पुराने अधिनियम 65 आफ 1960 के लिये जोड़ा गया था। उपबन्ध (2) Presidency towns insolvency Act 1909 की धारा 7, Provincial insolvency Act की धारा 4 व 45 बी बैंकिंग कम्पनीज़ एक्ट की ही तर्ज पर है। उक्त उपबन्ध का मुख्य उद्देश्य न्यायालयों के दिवालियापन की क्षेत्राधिकारिता के संबंध में कम्पनी के जरिये या उनके विरुद्ध तथा अन्य प्रश्न जो कि कम्पनी के समापनी की प्रक्रिया को शीघ्रता से सम्पूर्ण करने की शक्तियों को सुदृढ बनाने का रहा है। उपबन्ध (2) व (3) कम्पनी लाॅ कमेटी के सुझाव जो कि पैरा 207(C) में इस प्रकार से दिये गये हैं - "All suits by or against a company in winding up should, notwithstanding any provisions in any law for the time being in force, be instituted in the court in which the winding up proceedings are pending." को ही प्रभावित करने के उद्देश्य से जोड़ी जाना दर्शित होता है। यह सब सभी संबंधित पक्षकारों जिनमें वह पक्षकार भी सम्मिलित हैं जिनका कम्पनी के विरुद्ध कोई क्लेम है तथा जहां कोर्ट जिसमें समापन की प्रक्रिया चल रही है, उस संबंध में स्वयं के क्रियाकलापों के संबंध में वाद प्रस्तुत करने आदि के हितों को सन्तुलित करने की ही

मन्शा रही है। धारा 171 भारतीय कम्पनी अधिनियम 1913 जो कि यह प्रावधानित करता था कि वह कम्पनी जिसकी समापन प्रक्रिया चल रही हो, उसके विरुद्ध वादों का लम्बन ना हो, जो कि इस प्रकार से है कि

"171. जब समापन आदेश दिया गया है या एक अनंतिम परिसमापक नियुक्त किया गया है, तो अदालत की अनुमति के अलावा कंपनी के खिलाफ कोई मुकदमा या अन्य कानूनी कार्यवाही नहीं की जाएगी या शुरू नहीं की जाएगी, और ऐसी शर्तों के अधीन होगी जो अदालत लगा सकती है।

उक्त रेखांकित शब्द कम्पनी संशोधन अधिनियम 1936 जिसने अंग्रेजी अधिनियम का ही अनुसरण किया था, के द्वारा ही जोड़े गये थे। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भारत में जब से इसका प्रथम अधिनियम 1850 आया है तब से ही वह मुख्य रूप से इंग्लैंड में उन्नत हुए कम्पनी लाॅ की ही तर्ज पर अनुसरण कर रहा है। धारा 171 इस उद्देश्य के साथ बनायी गयी थी ताकि कम्पनी, जो कि समापित होने की प्रक्रिया में है, उनके विरुद्ध मात्र कोर्ट की अनुमति के बिना वाद निवारित किया जा सके। हमने इस धारा को इसलिये उद्धृत किया है, क्योंकि जिन निर्णयों का हवाला श्री देसाई ने अपने शुरुआती तर्कों में दिया है वह फैड्रल कोर्ट आफ इण्डिया व हाजा न्यायालय द्वारा उक्त धारा के निर्मित करने के संबंध में ही रहा है। फैड्रल कोर्ट आफ इण्डिया ने अपने न्यायिक दृष्टान्त गवर्नर

जनरल इन काउन्सिल बनाम शिरोमणी शुगर मिल्स लिमिटेड 1946² में इस धारा का अर्थ निकालते हुए यह अभिनिर्धारित किया है कि इस धारा के तहत "अन्य विधिक प्रक्रियाओं" में राजस्व प्राधिकारीयों द्वारा धारा 46(2) आयकर अधिनियम के तहत चालू प्रक्रियाए भी शामिल हैं तथा इस प्रकार धारा 46(2) के तहत आयकर अधिकारी को वांछित सर्टिफिकेट को कलेक्टर, जो कि भू-राजस्व की बकाया रकम को उद्ग्रहित करने हेतु मशीनरी को आगे बढ़ाता है, के पास भेजे जाने से पूर्व धारा 171 भारतीय कम्पनी अधिनियम के तहत समापित प्रक्रिया करने वाले न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए। वह पैरा जिस पर श्री देसाई विनिर्दिष्ट रूप से निर्भर हुए हैं, जहां लाहौर उच्च न्यायालय के न्यायिक दृष्टांत श्री शकुंतला बनाम द पीपुल्स बैंक ऑफ नॉर्दर्न इंडिया लिमिटेड³ (इन लिक्विडेशन), में की पूर्ण पीठ की टिप्पणियों से असहमत होते हुए स्पेंस, न्यायमूर्ति ने यह पाया की धारा 171 में अभिव्यक्ति "या अन्य कानूनी कार्यवाही" की आवश्यकता नहीं है और इसलिए, इसे "वादी के समान याचिका के माध्यम से शुरू किए गए मुकदमे के अनुरूप प्रथम दृष्टया अदालत में मूल कार्यवाही" तक सीमित नहीं किया जाना चाहिए। वहां के विद्वान मुख्य न्यायाधीश ने निरीक्षण किया:

“हमारे निर्णय में, धारा 171 को अधिनियम की अन्य

धाराओं और अधिनियम द्वारा निर्धारित परिसमापन में किसी

² [1946 F.C.R 40

³ 1941] I.L.R 22Lah. 760.

कंपनी की संपत्ति के प्रशासन की सामान्य योजना के संदर्भ में समझा जाना चाहिए। विशेष रूप से, हम धारा 232 का उल्लेख करेंगे। धारा 232 में ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रावधान धारा 171 का पूरक है कि कोई भी लेनदार (सरकार के अलावा) जो समापन आदेश के बावजूद या इसकी अज्ञानता में किसी भी कुर्की, संकट, निष्पादन या बिक्री के साथ आगे बढ़ता है, पूर्व अनुमति के बिना न्यायालय, पायेगा कि ऐसे कदम निरर्थक हैं। 'संकट' का संदर्भ इंगित करता है कि किसी सामान्य न्यायालय में मुकदमे की प्रकृति में मूल कार्यवाही शुरू करने से अधिक के लिए न्यायालय की अनुमति की आवश्यकता होती है। इसके अलावा, धारा 211 में परिकल्पित अपनी देनदारियों की समान संतुष्टि में कंपनी की संपत्ति के आवेदन की योजना और अधिनियम की अन्य धाराओं को समन्वय में काम करने के लिए नहीं बनाया जा सकता है, जब तक कि सभी लेनदारों (ऐसे सुरक्षित लेनदारों को छोड़कर जो फूड कंट्रोलर बनाम कॉर्क⁴ में अपने भाषण में लॉर्ड व्रेनबरी द्वारा बताए गए अर्थ में 'समापन से बाहर' हैं) एसी 647 को कंपनी की संपत्ति के खिलाफ उनके कार्यों के अनुसार न्यायालय के नियंत्रण में रखा गया है। तदनुसार, हमारे

⁴ [1923]A.C. 647.

फैसले में, धारा 171 में 'या अन्य कानूनी कार्यवाही' शब्दों पर कोई संकीर्ण निर्माण नहीं किया जाना चाहिए। हमारे फैसले में, ये शब्द सामान्य न्यायालयों में संकट और निष्पादन की कार्यवाही को कवर करने के लिए रखे जा सकते हैं और होने भी चाहिए। हमारे विचार में, ऐसी कार्यवाही कंपनी के खिलाफ अन्य कानूनी कार्यवाही है, जो कंपनी के खिलाफ सामान्य मुकदमों के विपरीत है।”

उस मामले में एक कंपनी को अप्रैल, 1942 में समाप्त करने का आदेश दिया गया था और 31 मई, 1940 को समाप्त वर्ष में कंपनी द्वारा किए गए मुनाफे के आयकर के आकलन का आदेश 1943 में दिया गया था और आयकर अधिकारी, परिसमापन अदालत की अनुमति प्राप्त किए बिना, कर की वसूली के लिए कार्यवाही शुरू कर दी जैसे कि यह भू-राजस्व का बकाया हो। इन तथ्यों पर यह देखा गया कि "या अन्य कानूनी कार्यवाही" शब्द संकट और निष्पादन कार्यवाही को कवर करने के लिए रखे जा सकते हैं और रखे जाने चाहिए। यह अभिव्यक्ति मूल्यांकन कार्यवाही को कवर करने के लिए आयोजित नहीं की गई थी, जिस पर स्पष्ट रूप से पार्टियों द्वारा कोई आपत्ति नहीं उठाई गई थी, हालांकि उनका प्रतिनिधित्व प्रतिष्ठित वकील द्वारा किया गया था। इस न्यायालय का निर्णय, जिसे श्री देसाई ने अगली बार संदर्भित किया है, एमके रंगनाथन बनाम मद्रास

सरकार⁵ है। इस निर्णय के अनुपात का स्पष्ट अंदाज़ा देने वाला शीर्षक इन शब्दों में है:

“सुरक्षित ऋणदाता समापन के बाहर है और समापन न्यायालय की अनुमति के बिना अपनी सुरक्षा का एहसास कर सकता है, हालांकि अगर वह अपनी सुरक्षा की वसूली के लिए मुकदमा दायर करता है या अन्य कानूनी कार्यवाही करता है तो वह भारतीय कंपनी अधिनियम की धारा 171 के तहत बाध्य है। ऐसा करने से पहले उसे परिसमापन न्यायालय की अनुमति प्राप्त करनी होगी, हालाँकि ऐसी छुट्टी लगभग स्वतः ही स्वीकृत हो जाएगी।

संसद के किसी अधिनियम में शब्दों का अर्थ उनके साथ तत्काल संबंध में पाए जाने वाले शब्दों के संदर्भ में करना निर्माण का एक वैध नियम है। यह भी निर्माण का एक सर्वमान्य नियम है कि विधायिका कानून में स्पष्ट शब्दों में या स्पष्ट निहितार्थ द्वारा स्पष्ट रूप से घोषित की गई बातों से परे कोई बड़ा बदलाव करने का इरादा नहीं रखती है और अधिनियम के सामान्य शब्दों में ऐसा नहीं होना चाहिए। इसे कानून की पिछली नीति को बदलने के रूप में माना जाता है, जब तक कि मौजूदा नीति को अछूता रखने

⁵ [1955] S.C.R.374

के इरादे से उन शब्दों पर लगातार कोई अर्थ या अर्थ लागू नहीं किया जा सकता है।

इसलिए, यह माना जाता है कि उस संदर्भ को ध्यान में रखते हुए जिसमें 1936 के संशोधित अधिनियम XXII द्वारा धारा 232(1) में जोड़े गए शब्दों 'किसी भी संपत्ति की अदालत की अनुमति के बिना की गई कोई भी बिक्री' का उपयोग "के साथ तुलना में किया गया है " संपत्ति या प्रभाव के खिलाफ अदालत की अनुमति के बिना लागू की गई कोई भी कुर्की, संकट या निष्पादन" उन पर लगाया जाने वाला एक वैध निर्माण होगा कि वे केवल अदालत के हस्तक्षेप के माध्यम से आयोजित बिक्री को संदर्भित करते हैं, न कि प्रभावित बिक्री को। समापन के बाहर सुरक्षित ऋणदाता और न्यायालय के हस्तक्षेप के बिना, और यह कि संशोधन का उद्देश्य समापन के बाहर सुरक्षित ऋणदाता द्वारा की गई बिक्री को सामान्य शब्दों के दायरे में लाना नहीं था।

तदनुसार माना गया कि वर्तमान मामले में जुलाई 1954 में डिबेंचर धारकों के ट्रस्टियों के रिसीवर के रूप में प्रतिवादी नंबर 2 द्वारा की गई बिक्री वैध थी और संबंधित सभी पक्षों के लिए बाध्यकारी थी और इसे चुनौती नहीं दी

जा सकती थी क्योंकि यह आधिकारिक प्राप्तकर्ता की मांग की गयी थी।”

उक्त मामले में संघीय न्यायालय के शकुंतला वाले फैसले की पहले से ही दोहराई गई टिप्पणियों पुष्टि की गयी। यहाँ यह भी बताया जाना आवश्यक है कि इस फैसले में इस न्यायालय ने पाया कि समापन अदालत कंपनी की संपत्तियों यथानुपात वितरण का उसी तरह आश्रित करता है, जिस तरह प्रेसीडेंसी टाउन इन्सॉल्वेंसी एक्ट या प्रांतीय दिवाला अधिनियम के तहत, अदालत इस तरह के वितरण को सुनिश्चित करती है । 1913 अधिनियम के धारा 232(1) जिसे धारा 171 का पूरक माना गया था, में भी उसी तरह कानूनी कार्यवाही का संदर्भ बताया गया था जिस तरह धारा 171 द्वारा ऐसी कार्यवाही की परिकल्पना की गई थी। हमारी राय में ये दो निर्णय यह नहीं बताते हैं कि आयकर अधिनियम के तहत निर्धारण की कार्यवाही को भारतीय कंपनी अधिनियम, 1913 की धारा 171 के दायरे में रखा जाना चाहिए। अगला निर्णय जिसका संदर्भ श्री देसाई ने दिया है वह है, यूनियन ऑफ इंडिया बनाम इंडिया फिशरीज (पी) लिमिटेड⁶ । उस मामले में प्रतिवादियों, फिशरीज (पी) लिमिटेड को परिसमापन अदालत द्वारा समापित करने का निर्देश दिया गया था और अक्टूबर, 1950 में उच्च न्यायालय के एक आदेश द्वारा एक आधिकारिक परिसमापक नियुक्त किया गया था। उस मामले में हेड-नोट तथ्यों और निर्णय का स्पष्ट प्रकाश देता है। यह इस प्रकार है :

⁶ [1965] 3 S.C.R.678.

“अक्टूबर, 1950 में उच्च न्यायालय के एक आदेश द्वारा प्रतिवादी कंपनी को समाप्त करने और एक आधिकारिक परिसमापक नियुक्त करने का निर्देश दिया गया था। दिसंबर, 1950 में उत्तरदाता पर वर्ष 1948-49 के लिए 8737 रुपये का कर लगाया गया। उक्त कर पर क्लैम को अप्रैल, 1952 में आधिकारिक परिसमापक के सामान्य क्लैम के तौर पर अनुज्ञात व प्रमाणित किया गया। परिसमापक ने अगस्त, 1954 में रुपये में 91 आने का लाभान्श घोषित किया और विभाग को शेष राशि 3549 का बैलेन्स छोड़ते हुए 5188 राशि का भुगतान किया।

जून, 1954 में, विभाग ने उत्तरदाता से मांग की और वर्ष 1955-56 के लिए अग्रिम कर के रूप में विभाग को 2565 रु रुपये का भुगतान किया गया। उस वर्ष के लिए नियमित निर्धारण किये जाने पर, केवल रु. 1126 को देय के रूप में निर्धारित की गयी ताकि रुपये की 1460, ब्याज सहित, प्रतिवादी को वापसी योग्य बनना पाया गया। हालाँकि, आयकर अधिकारी ने, आयकर अधिनियम, 1922 की धारा 49 ई के तहत उन्हें उपलब्ध शक्ति का प्रयोग करते हुए, इस राशि को वर्ष 1948-49 की देय राशि 3549 रूपए की राशि के विरुद्ध मुजरा कर दिया। इस सेट-ऑफ के संबंध

में उत्तरदाता द्वारा दायर एक पुनरीक्षण याचिका आयकर आयुक्त द्वारा खारिज कर दी गई।

इसके पश्चात, आयकर अधिकारी और आयुक्त के आदेशों को रद्द करने के लिए उत्तरदाता द्वारा दायर अनुच्छेद 226 के तहत याचिका को उच्च न्यायालय ने इस आधार पर अनुमत किया कि वर्ष 1948-49 के संबंध में 8737/- रूपयों की मांग, जो कि अभिनिर्धारित व प्रमाणित कि है, कि है वह परिसमापक द्वारा विभाग को देय असुरक्षित ऋण की सभी गुणों का धारण करने वाली पायी गयी; इसलिए यह कंपनी कानून के प्रावधानों द्वारा शासित था और इसके अतिरिक्त दावे की संतुष्टि प्राप्त करने के लिए कोई अन्य उपाय या तरीका लेनदार के लिए उपलब्ध नहीं था।

इस न्यायालय में अपील में अपीलकर्ता की ओर से यह तर्क दिया गया कि धारा 49 ई आयकर अधिकारी को किसी भी शेष देय कर के विरुद्ध वापसी योग्य राशि निर्धारित करने की वैधानिक शक्ति देती है और यह शक्ति किसी अन्य कानून के किसी भी प्रावधान के अधीन नहीं है।

यह अभिनिर्धारित किया गया कि आयकर अधिकारी ने धारा 49 ई लागू करने और उत्तरदाता के बचे रिफंड को मुजरा कर गलती की थी।

कंपनी अधिनियम, 1913 की धारा 228 और 229 का प्रभाव, अन्य बातों के साथ-साथ, यह है कि एक असुरक्षित ऋणदाता को अपने ऋणों को साबित करना होगा और सभी असुरक्षित ऋणों का भुगतान बराबर रूप से करना होगा। एक बार जब विभाग के दावे को साबित करना होता है और परिसमापन कार्यवाही में वह साबित होता है, तो यह धारा 49 ई के तहत अधिकार का प्रयोग करके अन्य असुरक्षित लेनदारों पर प्राथमिकता प्राप्त नहीं कर सकता है और इस प्रकार कंपनी अधिनियम की धारा 228 और 229 के मूल उद्देश्य को विफल नहीं कर सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि कानून के दो स्वतंत्र प्रावधानों के बीच कोई स्पष्ट विरोधाभास है, तो विशेष प्रावधान ही लागू होना माने जावेंगे। धारा 49 ई एक सामान्य प्रावधान है जो सभी परिस्थितियों में सभी निर्धारितियों पर लागू होता है; धारा 228 और 229 ऋणों के प्रमाण और परिसमापन में उनके भुगतान से संबंधित हैं। धारा 49 ई को धारा 228 और 229 के साथ ऐसे समाधानित किया जा सकता है कि धारा 49 ई तब लागू होती है जब दिवाला नियम लागू नहीं होते हैं।”

हमारी राय में यह निर्णय उस संकीर्ण बिंदु पर अपीलर्थी के लिए कोई बड़ी सहायता नहीं करता है, जिसे हमारे निर्धारण की आवश्यकता है।

इसके विपरीत कुछ हद तक यह श्री देसाई के खिलाफ ही जाता है क्योंकि आधिकारिक परिसमापक की नियुक्ति के बाद दिसंबर, 1950 में किए गए निर्धारण को सही माना गया था। यह याद किया जा सकता है कि शिरोमणि शुगर मिल्स मामले (सुप्रा) में समापन आदेश के बाद किए गए निर्धारण को चुनौती नहीं दी गई थी, हालांकि हमारे सामने श्री देसाई द्वारा संबोधित तर्क पर इसे चुनौती दी जा सकती थी। उद्धृत निर्णयों का कोई भी निर्णयाधार या सिद्धान्त, जो की स्वीकृत और लागू किया है, आय के निर्धारण के सटीक बिंदु पर अपीलकर्ता के तर्कों का समर्थन नहीं करता है। श्री देसाई ने इसके बाद हमें इस न्यायालय के एक हाल की के निर्णय का उल्लेख किया है वह है बलवंत सिंह बनाम एलसी भारुमल, आयकर अधिकारी, नई दिल्ली⁷। इस मामले में आयकर अधिकारी को सीआरपीसी की धारा 195(1)(बी) के प्रयोजन के लिए अदालत माना गया था। हालांकि इसमें यह भी जोड़ा गया है कि आयकर अधिकारी को राजस्व न्यायालय के रूप में नहीं माना जा सकता है और इसलिए, न तो धारा 476 और न ही धारा 479-ए, सीआर पीसी लागू होगी। यह निर्णय इस तर्क को बल देने के उद्देश्य से उद्धृत किया गया है कि यदि धारा 446 में अभिव्यक्ति "अन्य कानूनी कार्यवाही" का अर्थ अदालत में कार्यवाही मानी जाए, तो निर्धारण या पुनर्निर्धारण कार्यवाही आयोजित करते समय आयकर अधिकारी को भी अदालत ही माना जाना चाहिए। इस तर्क को इस टिप्पण के साथ निस्तारित किया जा सकता है कि केवलमात्र कि आयकर

⁷ [1968] 70 I.T.R. 89 (S.C.)

अधिकारी को धारा 195(1)(बी) सीआरपीसी के प्रयोजन के लिए अदालत माना जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं निकाला जा सकता है कि उक्त अधिकारी को अधिनियम की धारा 446 के प्रयोजनों के लिए भी अदालत माना जाना जावे। इस निर्णय का दायरा उसके अपने तथ्यों से परे विस्तारित करने का कोई औचित्य नहीं है। वे निर्णय जो स्पष्ट रूप से अपीलर्थी के विवाद को अधिक प्रत्यक्ष रूप से समर्थन देते प्रतीत होते हैं, वे हैं भारत संघ बनाम सेठ स्पिनिंग मिल्स लिमिटेड, (परिसमापन में)⁸ और मैसूर स्पन सिल्क मिल्स लिमिटेड, (परिसमापन में), आधिकारिक परिसमापक बनाम आयकर आयुक्त, बेंगलोर⁹। ये दोनों एकल न्यायाधीशों द्वारा दिए गए निर्णय हैं, पहला पंजाब उच्च न्यायालय द्वारा और दूसरा मैसूर उच्च न्यायालय द्वारा दिया गया है। सेठ स्पिनिंग मिल्स मामले (सुप्रा) में यह टिप्पणी की गयी थी कि "भारतीय कंपनी अधिनियम, 1913 की धारा 171 यह प्रावधानित करती है कि जब समापन का आदेश दे दिया गया है, तब न्यायालय की अनुमति के अतिरिक्त और अदालत द्वारा लगाई गई शर्तों के अधीन, कंपनी के खिलाफ कोई मुकदमा या अन्य कानूनी कार्यवाही नहीं की जाएगी या शुरू नहीं की जाएगी। इस धारा की भाषा आयकर अधिनियम के तहत होने वाली कार्यवाहियों को शामिल करने के लिए पर्याप्त रूप से व्यापक है।

⁸ [1962] 46 I.T.R. 193.

⁹ [1968] 68 I.T.R. 295.

कोर्ट से कोई अनुमति नहीं ली गई है। यह सब देखते हुए, याचिकाकर्ता का 4000/- रुपये का दावा जो कि उस पर शास्ति के तौर पर दिनांक 14 अप्रैल 1956 को लगाया गया था, विचारण योग्य नहीं है। इस मामले में भारत संघ ने आयकर आयुक्त के माध्यम से विद्वान एकल न्यायाधीश को आवेदन दिया था, जो स्पष्ट रूप से एक कंपनी न्यायाधीश के रूप में कार्य कर रहा था, प्रार्थना कर रहा था विभाग के 16,500 रुपये के दावे को आधिकारिक परिसमापक द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए था और ऐसा करने से इनकार करना कानून में उचित नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस राशि में आयकर विभाग द्वारा लगाया गया जुर्माना भी शामिल है। जुर्माने का एक हिस्सा कंपनी के परिसमापन में जाने से पहले पारित एक आदेश के माध्यम से लगाया गया था, लेकिन जुर्माने से संबंधित 4,000 रुपये की राशि समापन की दिनांक के बाद लगाई गयी थी। माननीय एकल खंडपीठ द्वारा याचिका को निर्धारित करते हुए टिप्पणी की कि:

“भारतीय कंपनी अधिनियम, 1913 की धारा 171 यह प्रावधानित करती है कि जब समापन का आदेश दे दिया गया है, तब न्यायालय की अनुमति के अतिरिक्त और अदालत द्वारा लगाई गई शर्तों के अधीन, कंपनी के खिलाफ कोई मुकदमा या अन्य कानूनी कार्यवाही नहीं की जाएगी या शुरू नहीं की जाएगी। इस धारा की भाषा

आयकर अधिनियम के तहत होने वाली कार्यवाहियों को शामिल करने के लिए पर्याप्त रूप से व्यापक है। कोर्ट से कोई अनुमति नहीं ली गई है। यह सब देखते हुए, याचिकाकर्ता का 4,000 रुपये का दावा जो कि उस पर शास्ति के तौर पर दिनांक 14 अप्रैल 1956 को लगाया गया था, विचारण योग्य नहीं है।”

मैसूर वाले मामले में ऐसा प्रतीत होता है कि मिलों के परिसमापन के दौरान परिसमापक के हाथों में बड़ी मात्रा में धन आ गया था। जिसे ऋणदाताओं को लाभांश के वितरण के लिए तुरंत लागू नहीं किया जा सकता था। उन पैसों को कंपनी (न्यायालय) नियमों के प्रासंगिक प्रावधानों के अनुसार निवेश किया गया था। प्रश्न यह उठा कि क्या आय की प्राप्तियों के संबंध में परिसमापक उन प्राप्तियों पर आयकर का भुगतान करने के लिए उत्तरदायी था। विद्वान एकल न्यायाधीश ने [कंपनी अधिनियम](#) की योजना पर चर्चा करने के बाद पाया कि:

“परिसमापक केवल न्यायालय का एक अधिकारी होता है। दिवालियापन के मामले में रिसीवर के विपरीत, दिवालिया की संपत्तियां उसमें निहित नहीं होती हैं बल्कि अदालत के नियंत्रण में आती हैं। उसके सभी कार्य न्यायालय के नियंत्रण के अधीन होते हैं, जिसके लिए न्यायालय उसे परिसमापन के दौरान समय-समय पर

उचित निर्देश जारी करता है। कोई भी अदालत या अन्य प्राधिकारी (कंपनी अधिनियम की धारा 446 की उप-धारा (4) में निहित अपवाद के अधीन) कोई कार्यवाही नहीं कर सकता है या किसी भी मामले को कुर्क या अन्यथा नहीं कर सकता है। समापन अदालत परिसमापक को अपना विशेष अधिकारी मानती है जिसे विशेष रूप से कंपनी का प्रतिनिधित्व करने और समापन में उसके हितों की रक्षा करने का कर्तव्य सौंपा गया है।

उपरोक्त सिद्धांतों के आलोक में, यह देखना अदालत का कर्तव्य है कि कंपनी की सभी उत्तरदायित्व विधिक प्रावधानों के अनुसार और कंपनी अधिनियम में निहित विशेष प्रावधानुसार से पूरी तरह से मिलाप कर रहे हैं। आयकर की देनदारी भी उन देनदारियों में से एक है जिसे अदालत द्वारा परिसमापन के दौरान प्रदान करने की उम्मीद की जाती है।

ऐसी स्थिति होने पर, प्रश्न यह है कि, क्योंकि परिसमापक आयकर अधिनियम में परिभाषित प्रमुख अधिकारी के विवरण का उत्तर नहीं देता है, क्या आयकर के भुगतान के लिए कंपनी की देनदारी, यदि कोई हो, स्वयं ही

समाप्त होजाती है और इसलिए समापन अदालत उत्तरदायित्व की अनदेखी कर सकता है।”

इसके बाद न्यायालय ने पाया कि समापन आदेश के बाद भी कंपनी का कॉर्पोरेट अस्तित्व जारी रहता है; लेकिन परिसमापन आदेश के बाद आयकर के भुगतान के प्रश्न को आयकर अधिनियम और कंपनी अधिनियम की शर्तों या प्रावधानों के संयुक्त आवेदन पर निपटाया या उत्तर दिया जाना चाहिए । ऐसा पाते हुए न्यायालय इस प्रकार से आगे बढ़ा कि:

“समापन आदेश पारित होने के बाद भी, कंपनी आयकर अधिनियम की धारा 4 के तहत एक व्यक्ति बनी रहती है, इसलिए समापन के दौरान कोई भी रसीद जो उपयुक्त के तहत आयकर के दायित्व को आकर्षित करेगी आयकर अधिनियम के प्रावधान आयकर के लिए या आयकर अधिनियम के तहत कर के भुगतान के लिए उत्तरदायी होंगे, लेकिन इससे पहले कि आयकर अधिनियम के तहत उपयुक्त आयकर अधिकारी द्वारा आयकर की मात्रा निर्धारित करने या एकत्र करने के लिए कोई भी कार्यवाही करे उसे धारा 446 के तहत परिसमापन न्यायालय की अनुमति लेनी चाहिए कंपनी अधिनियम, और इसके अतिरिक्त कर का संग्रहण केवल कंपनी अधिनियम के उचित प्रावधानों के आलोक में कर के भुगतान के लिए परिसमापन

अदालत के आदेशों को सुरक्षित करके ही किया जा सकता है।”

इस मामले में जहां तक निर्धारित किए गए कर के संग्रहण का संबंध है, वहां लिए गए दृष्टिकोण से सहमत होने में शायद ही कोई कठिनाई हो सकती है। लेकिन यह केवल तब होता है जब अदालत ने कहा कि आयकर की मात्रा निर्धारित करने के उद्देश्य से अधिनियम की धारा 446 के तहत अनुमति प्राप्त करनी होगी, हमें इसी दृष्टिकोण इस पर विचार करना है कि क्या यह दृष्टिकोण सही है। श्री देसाई ने मुख्य रूप से इसी मत पर भरोसा किया है। यह उल्लेखनीय है कि संघीय न्यायालय और इस न्यायालय के निर्णय जिनका श्री देसाई पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, वह इस दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करते हैं।

श्री देसाई द्वारा अब्दुल अजीज अंसारी बनाम बॉम्बे राज्य¹⁰ का भी हवाला दिया गया है जिसमें बॉम्बे बिक्री कर अधिनियम, 1946, जिसे बॉम्बे बिक्री कर अधिनियम, 1953 की धारा 48(2) के जरिये निरसित कर दिया गया था, को विधिक कार्यवाही माना गया था। हमें नहीं लगता कि यह निर्णय इस प्रश्न पर विचार करने के लिए कोई सहायता करता है कि अधिनियम की धारा 446 के तहत क्या मूल्यांकन या पुनर्मूल्यांकन कार्यवाही को विधिक माना जा सकता है;

¹⁰ A.I.R. 1958 Bom. 279

अपीलकर्ता के विद्वान वकील ने हमारा ध्यान शिरोमणि शुगर मिल्स बनाम गवर्नर जनरल इन काउंसिल¹¹ की ओर भी आकर्षित किया है, जहां कंपनी अधिनियम, 1913 की धारा 171 का उल्लेख करते हुए, इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया था कि 1922 के आयकर अधिनियम की धारा 46 के तहत आयकर अधिकारी द्वारा निर्धारण की राशि की वसूली के बाबत कार्यवाही और उन कार्यवाही के लिए कलेक्टर द्वारा अभियोजन का "आरंभ", "आगे बढ़ाने के" व "वाद या आय विधिक कार्यवाही" के समान ही माना जाता है। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि यह वही दृष्टिकोण है जिसे अपील में संघीय न्यायालय ने पहले ही संदर्भित निर्णय में बरकरार रखा है।

श्री देसाई द्वारा भारत मत्स्य पालन मामले¹² का हवाला देते हुए आगे दलील दी गयी की कि अधिनियम की धारा 446 एक विशेष प्रावधान है और आयकर अधिनियम की धारा 148 कानून का एक सामान्य प्रावधान है। यहां यह बताया आवश्यक है कि है उस मामले में, यह आयकर अधिनियम की धारा 49 ई के संदर्भ में टिप्पणी करते समय, इस न्यायालय ने यह पाया था कि उक्त धारा में वर्णित अधिकार का प्रयोग करते हुए, राजस्व को अन्य असुरक्षित लेनदारों के उपर प्राथमिकता नहीं मिल सकती है, और इसी संदर्भ में ही यह कहा गया था कि जब दो स्वतंत्र प्रावधानों के बीच स्पष्ट आसमानताएँ तो विशेष कानून के तहत विशेष प्रावधान को

¹¹ I.L.R. 1945 Allahabad 352.

¹² [1965] 3 S.C.R. 678.

प्राथमिकता दी जावेगी। किसी निर्णय की बाध्यकारी शक्ति को समझने और उसकी सराहना करने के लिए यह देखना हमेशा आवश्यक होता है कि जिस मामले में निर्णय दिया गया था उसके तथ्य क्या थे और वह किस बिंदुओं पर थे। इस प्रकार भारत मत्स्य पालन मामला¹³ श्री देसाई की कोई सहायता नहीं करता है और हम श्री देसाई के इस तर्क का समर्थन करने हेतु उस निर्णय में टिप्पणियों का यह अर्थ लगाने में असमर्थ हैं कि अधिनियम की धारा 446 धारा 148 आयकर अधिनियम के मुकाबले एक विशेष प्रावधान है, जिसके तहत आयकर अधिकारी आयकर के निर्धारण या पुनर्निर्धारण के लिए कार्यवाही करते हैं और इसलिए पूर्व वाले को बाद वाले से प्राथमिकता दी जावेगी।

अब आयकर अधिनियम की ओर रुख रखते हुए हुए यह उल्लेखनीय है कि धारा 148 अध्याय XIV में आती है जो धारा 139 से शुरू होकर निर्धारण की प्रक्रिया निर्धारित करती है और धारा 147 निर्धारण से बचने वाली आय के निर्धारण या पुनर्निर्धारण प्रावधानित करती है। यह प्रावधान, धारा 148 से 153 के प्रावधानों के अधीन, संबंधित आयकर अधिकारी को बची हुई आय का निर्धारण या पुनर्निर्धारण करने का अधिकार देती है। इन निर्धारण की कार्यवाहियों को आयोजित करते समय, आयकर अधिकारी, हमारे विचार में, अधिनियम की धारा 446(2) के अनुसार न्यायालय के कार्य का सम्पादन नहीं करता है। भारतीय कंपनी अधिनियम का विधायी इतिहास और योजना, विशेष रूप से धारा 446 की भाषा को समग्र रूप से

¹³ [1965] 3 S.C.R. 678.

पढ़ने पर, ऐसा प्रतीत होता है कि उपधारा (1) में प्रयुक्त हुई अभिव्यक्ति "अन्य कानूनी कार्यवाही" और उपधारा (2) में प्रयुक्त अभिव्यक्ति "कानूनी कार्यवाही" एक ही अर्थ अभिव्यक्त करती है और दोनों उप-धाराओं में समापन न्यायालय द्वारा उचित रूप से कार्यवाही देखी जा सकती है। आयकर अधिनियम हमारी राय में, यह एक संपूर्ण संहिता है और यह विशेष रूप से आयकर के निर्धारण और पुनर्निर्धारण के संबंध में, जिसे लेकर हम इस प्रकरण में विचारण कर रहे हैं, तो यह स्वयं में ही पूर्ण संहिता है। यह तथ्य कि एक निर्धारिती द्वारा देय कर राशि का निर्धारण या मात्राबद्ध होने के बाद परिसमापन में कंपनी से इसकी वसूली अधिनियम द्वारा शासित होती है क्योंकि देय आयकर भी एक ऋण होने के कारण अन्य ऋणों के समान ही है, का अर्थ यह नहीं है कि कर की राशि की गणना के लिए निर्धारण कार्यवाही को ऐसी अन्य कानूनी कार्यवाही माना जाए जो की धारा 446 के तहत परिसमापन अदालत की अनुमति के साथ ही शुरू या जारी रखी जा सकती हैं। परिसमापन अदालत, हमारी राय में, निर्धारिती द्वारा देय कर की राशि का निर्धारण करते समय आयकर अधिकारियों के कार्य संपादित नहीं कर सकता है, भले ही निर्धारिती ऐसी कंपनी हो जिसे अदालत द्वारा समापित किया जा रहा हो। निर्धारण या पुनर्निर्धारण की कार्यवाही के दौरान आयकर अधिकारी द्वारा दिए गए आदेश आयकर अधिनियम के तहत उच्च अधिकारियों के समक्ष अपील के अधीन हैं। इसमें उच्च न्यायालय को रेफरफ्रेन्स और उच्च न्यायालय के निर्णयों को उच्चतम न्यायालय में अपील करने और फिर आयकर आयुक्त द्वारा निगरानी के

प्रावधान भी हैं। यदि परिसमापन न्यायालय की शक्तिया स्वयं को ही निर्धारण प्रक्रिया को अंतरित कर कंपनी की आयकर निर्धारित करने की होना मानी जावे तो इसके विषम परिणाम होंगे। अपीलार्थी की ओर से श्री देसाई का तर्क यह है कि परिसमापन अदालत को अपने विवेक से दिए गए किसी मामले में मूल्यांकन कार्यवाही को स्थानांतरित करने से इनकार करने का अधिकार है, लेकिन अधिनियम की धारा 446 की स्पष्ट भाषा के तहत, यदि समीचीन समझा जाए, तो यह शक्ति उसी न्यायालय में निहित होनी मानी जानी चाहिए। हम इस तर्क से प्रभावित नहीं हैं। धारा 446 की भाषा का अर्थ इस तरह से लगाया जाना चाहिए जिससे विषम परिस्थितियों वाले समस्त परिणाम यथा आयकर अधिनियम के तहत समापन न्यायालय को आयकर अधिकारी की शक्तियों प्रदत्त की जाना, को समाप्त किया जा सके, क्योंकि हमारे विचार में विधायिका इस तरह के परिणाम का इरादा नहीं रख सकती है।

यह तर्क कि वह कंपनी जिसे समापित किया जा रहा है उसके निर्धारण या पुनर्निर्धारण की कार्यवाही केवल परिसमापन अदालत की अनुमति से ही शुरू या जारी रखी जा सकती है, जो कि दोनों कंपनी अधिनियम और आयकर अधिनियम की योजना पर आधारित है, स्वीकार्य नहीं है। हमें ऐसा कोई सिद्धांत नहीं दर्शाया गया है जिसके आधार पर परिसमापन अदालत को उस कंपनी, जिसे समापित किया जा रहा है, द्वारा देय कर की राशि निर्धारित करने के लिए निर्धारण कार्यवाही को रोकने

की शक्ति दी जानी चाहिए । परिसमापन अदालत के पास आयकर निर्धारित होने और परिसमापक से इसके भुगतान की मांग के बाद राजस्व के दावे की जांच करने की पूरी शक्ति होगी। परिसमापन अदालत को उसके पश्चात यह तय करने कि स्वतंत्र होगा कि कानून के तहत, विभाग द्वारा निर्धारित आयकर की राशि परिसमापित हो रही कंपनी कि रकम पर वैध दायित्व के रूप में कितनी विधिक रूप से स्वीकार्य है। समापन के स्तर तक न्यायालय अधिनियम के तहत कंपनी और उसके लेनदारों के हितों की पूरी तरह से रक्षा कर सकता है। संयोग से, यह बताया जाना आवश्यक है कि कि बार कि ओर से ऐसा कोई अंग्रेजी निर्णय हमारे संज्ञान में नहीं लाया गया है जिसमें निर्धारण कार्यवाही को समापन न्यायालय द्वारा नियंत्रित किया जाना अभिनिर्धारित किया गया हो। उपरोक्त सभी को देखते हुए, सेठ स्पिनिंग मिल्स लिमिटेड, (परिसमापन में)¹⁴ और मैसूर स्पन सिल्क मिल्स लिमिटेड, (परिसमापन में)¹⁵ के मामलो मे अभिनिर्धारित यह विधि कि आयकर अधिकारियों को निर्धारण या पुनर्निर्धारण कि कार्यवाही शुरू करने या जारी रखने के लिए परिसमापन अदालत की अनुमति लेनी होगी, सही विधि अभिनिर्धारित कि जाना प्रकट नहीं होता है।

उपरोक्त कारणों से हमें अपील को शास्ति सहित खारिज करने में कोई संकोच नहीं है।

SC

अपील खारिज।

¹⁴ 46 I.T.R. 193.

¹⁵ 68 I.T.R. 695.

यह अनुवाद आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस टूल 'सुवास' की सहायता से अनुवादक पुरुषोत्तम मिश्रा (आर जे एस.) द्वारा किया गया है।

अस्वीकरण: यह निर्णय पक्षकार को उसकी भाषा में समझाने के सीमित उपयोग के लिए स्थानीय भाषा में अनुवादित किया गया है और किसी अन्य उद्देश्य के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है। सभी व्यावहारिक और आधिकारिक उद्देश्यों के लिए, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रामाणिक होगा और निष्पादन और कार्यान्वयन के उद्देश्य से भी अंग्रेजी संस्करण ही मान्य होगा।